वैशेषिकदर्शनम्

वैशेषिकदर्शन एक दृष्टि में

वैशेषिकदर्शन के प्रणेता महर्षि कणाद हैं। खेतों से अन्न के कण बीनकर अपने उदर की पूर्ति करने के कारण इनका यह नाम पड़ा था। इस ग्रन्थ में दस अध्याय हैं। प्रत्येक अध्याय में दो-दो आह्निक हैं; और सूत्रों की संख्या ३७० है। महर्षि कणाद ने भी पहले ही अध्याय में अपने दर्शन का उद्देश्य बतला दिया है। वह उद्देश्य है निःश्रेयस अथवा मोक्ष की प्राप्ति।

वैशेषिक का अर्थ है—

विशेषं पदार्थमधिकृत्य कृतं शास्त्रं वैशेषिकम्।

विशेष (पृथिव्यादि परम सूक्ष्म भूततत्त्वों का नाम विशेष है) नामक पदार्थ को मूल मानकर प्रवृत्त होने के कारण इस शास्त्र का नाम वैशेषिक है।

वैशेषिक का सार है—

१. पदार्थ छह हैं—द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष और समवाय।

२. द्रव्य नौ हैं—पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश, काल, दिशा, आत्मा और मन।

३. गुण चौबीस हैं—स्पर्श, रस, रूप, गन्ध, शब्द, संख्या, विभाग, संयोग, परिमाण, पार्थक्य, परत्व, अपरत्व, बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, धर्म, अधर्म, प्रयत्न, संस्कार, स्नेह, गुरुत्व और द्रवत्व।

४. कर्म पाँच प्रकार के होते हैं—उत्क्षेपण, अवक्षेपण, आकुञ्चन, प्रसारण और गमन।

५. सामान्य दो प्रकार का होता है—सत्तासामान्य और द्रव्यत्वादि (विशिष्ट) सामान्य।

६. विशेष—विशेष किसी पदार्थ की उस सत्ता का नाम है, जो उसे अन्य पदार्थों से भिन्न दिखलाता है।

७. समवाय—दो वस्तुओं के नित्य सम्बन्ध को समवाय कहते हैं, जैसे गुलाब में सुगन्धि, मनुष्य में मनुष्यता।

वैशेषिकदर्शन के मूल सिद्धान्त निम्न हैं—

१. **परमाणुवाद**—जगत् के मूल उपादान कारण परमाणु हैं। विभिन्न परमाणुओं के संयोग से विभिन्न वस्तुएँ बनी हैं।

२. **अनेकात्मवाद**—आत्माएँ अनेक हैं और कर्मफलभोग के लिए भिन्न-भिन्न शरीर धारण करती हैं।

३. **असत्कार्यवाद**—कारण से कार्य उत्पन्न होता है और कार्य अनित्य है।

४. **परमाणुनित्यतावाद**—परमाणु नित्य हैं, अवयवरहित होने के कारण उनका नाश नहीं होता।

५. **सृष्टिवाद**—बिना कारण के कार्य नहीं होता। जगत् कार्य है और उसका कर्ता ईश्वर है।

६. **मोक्षवाद**—आवागमन के चक्र से छूटकर मोक्ष प्राप्त करना जीव का चरम लक्ष्य है।

वैशेषिकदर्शनम्

प्रथमाध्याये प्रथममाह्निकम्

अथातो धर्मं व्याख्यास्यामः ॥१॥

शिष्य जिज्ञासा के अनन्तर, शिष्यों के उपस्थित होने के कारण अब हम धर्म की व्याख्या करेंगे।

यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः ॥२॥

जिससे अभ्युदय = इहलौकिक और निःश्रेयस = पारलौकिक सुख की सिद्धि होती है, वह धर्म है।

तद्वचनादाम्नायस्य प्रामाण्यम् ॥३॥

तत् = धर्मप्रवचन शास्त्र होने से वेद का प्रामाण्य है अथवा तत् = नित्य निर्दोष ईश्वर का वचन होने से वेद की प्रामाणिकता है।

धर्मविशेषप्रसूताद् द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषसमवायानां पदार्थानां साधर्म्यवैधर्म्याभ्यां तत्त्वज्ञानान्निःश्रेयसम् ॥४॥

धर्मविशेष से उत्पन्न १. द्रव्य, २. गुण, ३. कर्म, ४. सामान्य, ५. विशेष, तथा ६. समवाय नामक छह पदार्थों के साधर्म्य और वैधर्म्य (साधारण और असाधारण विशेषताओं) के तत्त्वज्ञान से मुक्ति होती है।

पृथिव्यापस्तेजो वायुराकाशं कालो दिगात्मा मन इति द्रव्याणि ॥५॥

पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश, काल = समय, दिशा, आत्मा और मन—ये नौ द्रव्य हैं।

रूपरसगन्धस्पर्शाः संख्याः परिमाणानि पृथकत्वं संयोगविभागौ परत्वापरत्वे बुद्धयः सुखदुःखे इच्छाद्वेषौ प्रयत्नाश्च गुणाः ॥६॥

रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, संख्या, परिमाण, पृथकत्व = अलग होना, संयोग, विभाग, परत्व = दूर होना, अपरत्व = समीप होना, बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न और (गुरुत्व = भारीपन, द्रवत्व = पिघलापन, स्नेह = बिखरे पदार्थ को पिण्ड बना देने की क्षमता, संस्कार, धर्म = पुण्यकर्म, अधर्म = पापकर्म, शब्द)—ये चौबीस गुण हैं।

उत्क्षेपणमवक्षेपणमाकुञ्चनं प्रसारणं गमनमिति कर्माणि ॥७॥

१. उत्क्षेपण = ऊपर की ओर फेंकना, २. अवक्षेपण—नीचे की ओर गिराना, ३. आकुञ्चन = सिकुड़ना या सिकोड़ना, ४. प्रसारण = फैलना-फैलाना और ५. गमन = शेष सब प्रकार की सामान्य क्रिया—ये कर्म हैं।

सदनित्यं द्रव्यवत्कार्यं कारणं सामान्यविशेषवदिति द्रव्यगुण-कर्मणामविशेषः ॥८॥

सत्ता से युक्त होना, अनित्य=विनाशी होना, द्रव्य से सम्बद्ध होना, कार्य=उत्पन्न होनेवाले, कारण=किसी अन्य कार्य के प्रति कारण होना, सामान्य धर्मयुक्त होने पर भी एक-दूसरे से भिन्न रहनेवाले—ये द्रव्य, गुण और कर्मों के सामान्य धर्म हैं।

द्रव्यगुणयोः सजातीयारम्भकत्वं साधर्म्यम् ॥९॥

द्रव्य तथा गुण पदार्थ का अपने समान जाति के पदार्थ को उत्पन्न करना साधर्म्य=समान धर्म है।

द्रव्याणि द्रव्यान्तरमारभन्ते गुणाश्च गुणान्तरम् ॥१०॥

पृथिव्यादि बहुत-से द्रव्य मिलकर दूसरे द्रव्य को और गुण अपने सजातीय दूसरे गुणों को उत्पन्न करते हैं।

कर्म कर्मसाध्यं न विद्यते ॥११॥

द्रव्य और गुण के समान एक कर्म से दूसरा कर्म, एक क्रिया से दूसरी क्रिया उत्पन्न नहीं होती।

न द्रव्यं कार्यं कारणं च बधति ॥१२॥

कोई भी द्रव्य अपने कार्य और कारण को नष्ट नहीं करता।

उभयथा गुणाः ॥१३॥

किन्तु गुण दोनों प्रकार से अर्थात् अपने कार्यगुण तथा कारणगुण से भी नष्ट हो जाते हैं।

कार्यविरोधि कर्म ॥१४॥

कर्म अपने कार्य से नष्ट हो जाता है।

क्रियागुणवत् समवायिकारणमिति द्रव्यलक्षणम् ॥१५॥

क्रिया तथा गुण के आश्रय और समवायिकारण को द्रव्य कहते हैं।

द्रव्याश्रय्यगुणवान् संयोगविभागेष्वकारणमनपेक्ष इति गुणलक्षणम् ॥१६॥

द्रव्य में आश्रित होनेवाले, गुणरहित तथा संयोग और विभाग में कारण न हों और निरपेक्ष हों, उन्हें गुण कहते हैं।

एकद्रव्यमगुणं संयोगविभागेष्वनपेक्षकारणमिति कर्मलक्षणम् ॥१७॥

एक ही द्रव्य में आश्रित, गुणरहित=गुण का अनाश्रय, संयोग और विभाग को उत्पन्न करने में निरपेक्ष कारण होना—यह कर्म का लक्षण है।

द्रव्यगुणकर्मणां द्रव्यं कारणं सामान्यम् ॥१८॥

नौ द्रव्य, चौबीस गुण और पाँच कर्मों का द्रव्य ही समवायि (नित्य) कारण होता है, इतने अंश में तीनों में साधर्म्य=समानता है।

तथा गुणः ॥१९॥

वैसे ही गुण भी द्रव्य, गुण तथा कर्म का असमवायि (अनित्य) कारण हैं।

संयोगविभागवेगानां कर्म समानम् ॥२०॥

संयोग, विभाग और वेग—इन तीनों का कर्म समान कारण है।

न द्रव्याणां कर्म ॥२१॥

कर्म द्रव्यों का कारण नहीं होता, अर्थात् द्रव्य की उत्पत्ति कर्म से नहीं होती।

व्यतिरेकात् ॥२२॥

द्रव्योत्पत्ति से पूर्व ही कर्म का अन्त हो जाने के कारण कर्म द्रव्य का कारण नहीं हो सकता।

द्रव्याणां द्रव्यं कार्यं सामान्यम् ॥२३॥

अनेक द्रव्यों का यह साधर्म्य=सामान्य धर्म है कि वे कार्यरूप द्रव्य को उत्पन्न करें।

गुणवैधर्म्यान्न कर्मणां कर्म ॥२४॥

द्रव्य तथा गुणों से वैधर्म्य होने के कारण अनेक कर्म मिलकर एक कर्म उत्पन्न नहीं कर सकते।

द्वित्वप्रभृतयः संख्याः पृथक्त्वसंयोगविभागाश्च ॥२५॥

दो से लेकर परार्धपर्यन्त संख्या, पृथक्त्व, संयोग और विभाग—इतने गुण अनेक द्रव्यों से ही उत्पन्न होते हैं, एक से नहीं।

असमवायात् सामान्यकार्यं कर्म न विद्यते ॥२६॥

कर्मों का द्रव्यों से समवाय=नित्य सम्बन्ध न होने के कारण कर्म को अनेक द्रव्यों का कार्य मानना प्रमाणसिद्ध नहीं है।

संयोगानां द्रव्यम् ॥२७॥

दो अथवा अनेक संयोगों का कार्य एक द्रव्य होता है।

रूपाणां रूपम् ॥२८॥

अनेक रूपगुणों का एक रूपगुण कार्य होता है अर्थात् रूप से रूप की उत्पत्ति होती है।

गुरुत्वप्रयत्नसंयोगानामुत्क्षेपणम् ॥२९॥

गुरुत्व, प्रयत्न और संयोग—इन सब गुणों का उत्क्षेपणकर्म एक कार्य है।

संयोगविभागाश्च कर्मनाम् ॥३०॥

संयोग और विभाग कर्मों के कार्य हैं।

कारणसामान्ये द्रव्यकर्मणां कर्माकारणमुक्तम् ॥३१॥

कारणसामान्य के प्रकरण में यह कहा गया है कि द्रव्य और कर्मों का कारण कर्म नहीं हो सकता।

॥ इति प्रथमाध्याये प्रथममाह्निकम् ॥

अथ प्रथमाध्याये द्वितीयमाह्निकम्

कारणाभावात्कार्याभावः ॥१॥

कारण के अभाव से कार्य का भी अभाव होता है। (तन्तु आदि कारणों के न रहने पर वस्त्रादि कार्य भी नहीं होते।)

न तु कार्याभावात्कारणाभावः ॥२॥

परन्तु कार्य का अभाव होने पर भी कारण का अभाव नहीं होता।

सामान्यं विशेष इति बुद्ध्यपेक्षम् ॥३॥

सामान्य और विशेष—ये दो प्रकार के पदार्थ बुद्धि=ज्ञान की अपेक्षा से होते हैं।

भावोऽनुवृत्तेरेव हेतुत्वात् सामान्यमेव ॥४॥

भाव=सत्ता केवल सामान्य है क्योंकि वह अनुवृत्ति=बुद्धि का हेतु होती है, व्यावृत्ति का नहीं।

द्रव्यत्वं गुणत्वं कर्मत्वं च सामान्यानि विशेषाश्च ॥५॥

द्रव्यत्व, गुणत्व और कर्मत्व—ये तीनों तथा पृथिवीत्व, रूपत्व और उत्क्षेपणत्व आदि जातियाँ—ये सामान्य और विशेष दोनों प्रकार की हैं।

अन्यत्रान्त्येभ्यो विशेषेभ्यः ॥६॥

अन्त्य 'विशेष' पदार्थ को छोड़कर (सामान्य के विषय में) सामान्य और विशेष शब्द का प्रयोग किया गया है।

सदिति यतो द्रव्यगुणकर्मसु सा सत्ता ॥७॥

द्रव्य, गुण, कर्म—इन तीनों में जिस पदार्थ से ऐसा ज्ञान और व्यवहार होता है कि ये 'सत्' हैं—वह धर्म 'सत्तासामान्य' कहलाता है।

द्रव्यगुणकर्मभ्योऽर्थान्तरं सत्ता ॥८॥

परन्तु यह सत्ता द्रव्य, गुण तथा कर्म से भिन्न पदार्थ है।

गुणकर्मसु च भावान्न कर्म न गुणः ॥९॥

सत्ता गुण और कर्म में विद्यमान रहने पर भी, यह सत्ता गुण और कर्म नहीं हो सकती क्योंकि गुण में दूसरा गुण और कर्म में दूसरा कर्म नहीं रह सकता।

सामान्यविशेषाभावेन च ॥१०॥

सामान्यविशेष के अभाव के कारण भी 'सत्ता' द्रव्य, गुण और कर्मों से भिन्न है।

अनेकद्रव्यवत्त्वेन द्रव्यत्वमुक्तम् ॥११॥

द्रव्यमात्र में रहने वाले धर्म को द्रव्यत्व कहा गया है।

सामान्यविशेषाभावेन च ॥१२॥

द्रव्यत्व में सामान्यविशेषात्मक द्रव्यत्व के न रहने के कारण द्रव्यत्व को द्रव्य से भिन्न कहा गया है।

तथा गुणेषु भावाद्गुणत्वमुक्तम् ॥१३॥

रूप, रस आदि चौबीस गुणों में समवायसम्बन्ध से वर्तमान धर्म को गुणत्व कहा गया है।

सामान्यविशेषाभावेन च ॥१४॥

गुणत्व में भी सामान्यविशेषात्मक गुणत्व के अभाव के कारण गुणत्व को गुण से भिन्न कहा गया है।

कर्मसु भावात्कर्मत्वमुक्तम् ॥१५॥

सभी प्रकार के कर्मों में रहनेवाले धर्म को कर्मत्व कहा गया है।

सामान्यविशेषाभावेन च ॥१६॥

कर्मत्व में भी सामान्यविशेषात्मक कर्मत्व के अभाव के कारण कर्मत्व को कर्म से भिन्न कहा गया है।

सदिति लिंगविशेषाद् विशेषलिंगाभावाच्चैको भावः ॥१७॥

द्रव्य, गुण, कर्म—तीनों में भाव अथवा सत्ता एक ही है क्योंकि 'है' इस प्रतीति में किसी प्रकार का परिवर्तन न होने से तथा भेदक चिह्न अथवा अनुमान के भी अभाव में (द्रव्य, गुण तथा कर्म में रहनेवाली) सत्ता एक ही सिद्ध होती है।

॥ इति प्रथमाध्याये द्वितीयमाह्निकम् ॥

अथ द्वितीयेऽध्याये प्रथममाह्निकम्

रूपरसगन्धस्पर्शवती पृथिवी ॥१॥

रूप, रस, गन्ध तथा स्पर्श गुणोंवाले द्रव्य को पृथिवी कहते हैं। (पृथिवी रूप, रस, गन्ध तथा स्पर्शवाली है।)

रूपरसस्पर्शवत्य आपो द्रवाः स्निग्धाः ॥२॥

रूप, रस, स्पर्श, द्रवत्व=बहनेवाले तथा स्नेहगुणों से युक्त द्रव्य को जल कहते हैं।

तेजो रूपस्पर्शवत् ॥३॥

शुक्ल भास्वर रूप तथा उष्ण स्पर्शवाले द्रव्य का नाम तेज=अग्नि है।

स्पर्शवान् वायुः ॥४॥

स्पर्श गुणवाला द्रव्य वायु है। (वायु स्पर्श गुणवाला है।)

त आकाशे न विद्यन्ते ॥५॥

ये—रूप, रस, गन्ध और स्पर्श नामवाले चार गुण आकाश में उपलब्ध नहीं होते। (आकाश काल, दिशा, आत्म, मन सभी का उपलक्षण है।)

सर्पिर्जतुमधूच्छिष्टानामग्निसंयोगाद् द्रवत्वमद्भिः सामान्यम् ॥६॥

घृत, लाख और मोम—इन वस्तुओं को गर्मी पहुँचाने से इनमें द्रवत्व=बहाव उत्पन्न हो जाता है, इतने अंश में इनकी जलों के साथ समानता है।

त्रपुसीसलोहरजतसुवर्णानामग्निसंयोगाद् द्रवत्वमद्भिः सामान्यम् ॥७॥

इसी प्रकार रांगा, सीसा, लोहा, चाँदी और सोना—इन धातुओं में भी अग्नि के संयोग से द्रवत्व उत्पन्न हो जाता है, इतने अंश में इनकी जलों के साथ समानता है।

विषाणी ककुद्मान् प्रान्तवालधिः सास्नावानिति गोत्वे दृष्टं लिंगम् ॥८॥

सींगों से युक्त होना, ऊँची ककुद्=टाटवाला होना, पूँछ के अन्तिम भाग में बाल होना और सस्ना=गलकम्बलयुक्त होना—ये गोत्व के प्रत्यक्ष लक्षण हैं।

स्पर्शश्च वायोः ॥९॥

स्पर्शगुण वायु के जानने का चिह्न=साधन है।

न च दृष्टानां स्पर्श इत्यदृष्टलिंगो वायुः ॥१०॥

स्पर्श प्रत्यक्षसिद्ध पृथिवी, जल और तेज का गुण नहीं है, इसलिए अदृष्ट वायु का ही यह चिह्न है।

अद्रव्यवत्त्वेन द्रव्यम् ॥११॥

द्रव्य में अनाश्रित होने के कारण परमाणुरूप वायु भी द्रव्य है।

क्रियावत्त्वाद् गुणवत्त्वाच्च ॥१२॥

क्रियाश्रय=क्रियावान् और स्पर्श आदि गुणों के आश्रय होने के कारण भी वायु-परमाणु द्रव्य ही है।

अद्रव्यत्वेन नित्यत्वमुक्तम् ॥१३॥

किसी अन्य अवयव द्रव्य से उत्पन्न न होने के कारण वायु-परमाणु को नित्य कहा गया है।

वायोर्वायुसंमूर्च्छनं नानात्व लिंगम् ॥१४॥

दो या दो से अधिक वायुखण्डों की परस्पर टक्कर होने से अनेक वायुओं के होने का अनुमान होता है।

वायुसन्निकर्षे प्रत्यक्षाभावाद् दृष्टं लिंग न विद्यते ॥१५॥

वायु के अत्यन्त समीप होने पर भी उसे आँख से नहीं देखा जा सकता, इसलिए उसके लिंग स्पर्श को भी दृष्ट नहीं माना जा सकता।

सामान्यतोदृष्टाच्चाविशेषः ॥१६॥

सामान्यतोदृष्ट=सादृश्यमूलक अनुमान से तो केवल अनुभूयमान स्पर्श के आश्रयभूत एक द्रव्य की सामान्य रूप से सिद्धि होती है, न कि 'वायु' इस द्रव्यविशेष की।

तस्मादागमिकम् ॥१७॥

प्रमाणानुसार वायु का ज्ञान आगम=वेद के आधार पर होता है।

संज्ञा कर्म त्वस्मद्विशिष्टानां लिंगम् ॥१८॥

इन विशिष्ट पदार्थों का नाम और कर्म हम लोगों से विशिष्टों[1] (परमेश्वर और योगियों) की अनुमति में हेतु है।

प्रत्यक्षप्रवृत्तत्वात् संज्ञाकर्मणः ॥१९॥

संज्ञा और कर्म का प्रवर्तक ईश्वर है क्योंकि उसको सब पदार्थ प्रत्यक्ष हैं।

निष्क्रमणं प्रवेशनमित्याकाशस्य लिंगम् ॥२०॥

निकलना और प्रवेश करना—इस प्रकार की क्रिया का सम्भव होना आकाश के अस्तित्व के चिह्न हैं।

तदलिंगमेकद्रव्यत्वात् कर्मणः ॥२१॥

निकलना और प्रवेश करना-रूप कर्म स्पर्शवाले द्रव्यों के हैं और आकाश स्पर्श-रहित है, अतः ये आकाश के लक्षण नहीं हो सकते।

कारणान्तरानुक्लृप्तिवैधर्म्याच्च ॥२२॥

आकाश समवाय=संयोगरहित है, अतः वह किसी वस्तु का समवायिकारण भी नहीं हो सकता, इसलिए निकलना और प्रवेश करना—ये दोनों कर्म आकाश की सिद्धि में प्रमाण नहीं माने जा सकते।

---

१. सर्वेषां तु स नामानि कर्माणि च पृथक्-पृथक्।
वेदशब्देभ्य एवादौ पृथक् संस्थाश्च निर्ममे॥ —मनु० १।२०

सर्ग के आरम्भ में ब्रह्मा आदि ऋषियों ने सब वस्तुओं के नाम और उनके कर्म तथा वर्णाश्रम आदि की व्यवस्था का वेदोक्त शब्दों के आधार पर ही निर्माण किया।

संयोगादभावः कर्मणः ॥२३॥

अवरोधक संयोग से क्रिया का अभाव हो जाता है। आकाश निकलने और प्रवेश करने का निमित्त कारण है—उसी रूप में ये आकाश के लिंग हैं।

कारणगुणपूर्वकः कार्यगुणो दृष्टः ॥२४॥

कारण में जो गुण होते हैं वही कार्य में भी देखे जाते हैं।

कार्यान्तराप्रादुर्भावाच्च शब्दः स्पर्शवतामगुणः ॥२५॥

शब्द स्पर्शवाले पृथिवी आदि का गुण नहीं है क्योंकि पृथिव्यादि के कार्य घट-पटादि से शब्द प्रकट नहीं होता अतः शब्द को आकाश का ही गुण मानना होगा।

परत्र समवायात् प्रत्यक्षत्वाच्च नात्मगुणो न मनो गुणः ॥२६॥

आत्मा से भिन्न द्रव्यों में शब्द के समवेत होने से शब्द को आत्मा का गुण नहीं माना जा सकता और श्रवण=कान से प्रत्यक्ष होने के कारण शब्द को मन, दिक् तथा काल का गुण भी नहीं माना जा सकता।

परिशेषाल्लिंगमाकाशस्य ॥२७॥

अतः परिशेष=अवशिष्ट अनुमान से यह सिद्ध होता है कि शब्द आकाश का ही लक्षण है।

द्रव्यत्वनित्यत्वे वायुना व्याख्याते ॥२८॥

आकाश के द्रव्यत्व और नित्यत्व को वायु के समान ही समझना चाहिए।

तत्त्वं भावेन ॥२९॥

आकाश द्रव्य सत्ताजाति के समान एक है, न कि अनेक।

शब्दलिंगविशेषाद् विशेषलिंगाभावाच्च ॥३०॥

शब्द रूप की विशेषता न होने से, शब्दलिंग के सामान्य होने से और विशेष लक्षण का अभाव होने से भी आकाश का एक होना सिद्ध है।

तदनुविधानादेकपृथक्त्वं चेति ॥३१॥

एकपृथक्त्व एकत्व का अनुसरण करता है अतः एकत्वयुक्त आकाश का एक-पृथक्त्व भी सिद्ध है।

॥ इति द्वितीयाऽध्याये प्रथममाह्निकम् ॥

अथ द्वितीयाऽध्याये द्वितीयमाह्निकम्

पुष्पवस्त्रयोः सति सन्निकर्षे गुणान्तराप्रादुर्भावो वस्त्रे गन्धाभावलिंगम् ॥१॥

पुष्प और वस्त्र के संयोग होने पर भी अन्य गुण का प्रकट न होना वस्त्र में गन्ध के अभाव का चिह्न है।

एतेनाप्सूष्णता व्याख्याता ॥२॥

इससे जल में उष्णता की व्याख्या भी समझ लेनी चाहिए अर्थात् जल में उष्णता औपाधिक है।

विरोध्यभूतं भूतस्य ॥११॥

अभूत (वर्षा का अभाव) भूत (वर्षा की विद्यमानता) का विरोधी लिङ्ग है। यह विरोधी लिङ्ग का उदाहरण है।

भूतमभूतस्य ॥१२॥

जो है, वह न हुए का विरोधी लिङ्ग है।

भूतो भूतस्य ॥१३॥

जो है, वह हुए का विरोधी लिङ्ग है। (विद्यमान वस्तु भी अन्य विद्यमान वस्तु की सिद्धि में विरोधी लक्षण है जैसे साँप और नकुल परस्पर विरोधी होते हुए भी एक स्थान पर पाये जाते हैं।)

प्रसिद्धिपूर्वकत्वादपदेशस्य ॥१४॥

अपदेश=हेतुनिर्देश तो प्रसिद्धिपूर्वक=व्याप्तिज्ञानपूर्वक अथवा साध्य-साधन के नियत साहचर्य की यथार्थ जानकारीपूर्वक ही होता है।

अप्रसिद्धोऽनपदेशोऽसन् सन्दिग्धश्चानपदेशः ॥१५॥

प्रसिद्धि=व्याप्ति से रहित हेतु हेतु नहीं, हेत्वाभास होता है तथा असत्=असिद्ध, विरुद्ध और सन्दिग्ध=सव्यभिचार, अनैकान्तिक भी हेत्वाभास होते हैं।

यस्माद्विषाणी तस्मादश्वः ॥१६॥

क्योंकि यह सींगोंवाला है, इसलिए घोड़ा है। (यह अप्रसिद्ध हेत्वाभास का उदाहरण है क्योंकि जिस-जिसके सींग हों वह घोड़ा कभी नहीं होता।)

यस्माद्विषाणी तस्माद् गौरिति चानैकान्तिकस्योदाहरणम् ॥१७॥

क्योंकि यह सींगवाला है अतः बैल है, यह अनैकान्तिक हेतु का उदाहरण है। (सींग बकरी आदि के भी देखे जाते हैं, अतः गौत्व में यह हेतु असाधारण हेतु नहीं अपितु अति व्याप्तिवाला है।)

आत्मेन्द्रियार्थसन्निकर्षाद्यन्निष्पद्यते तदन्यत् ॥१८॥

आत्मा, इन्द्रिय और अर्थ के सन्निकर्ष से जो ज्ञान उत्पन्न होता है, वह आत्मा का अनुमापक होता है। वह उपर्युक्त हेत्वाभासों से भिन्न है (अतः उसके द्वारा सम्पन्न अनुमति यथार्थ है)।

प्रवृत्तिनिवृत्ती च प्रत्यगात्मनि दृष्टे परत्र लिङ्गम् ॥१९॥

जैसी प्रवृत्ति=राग से उत्पन्न प्रयत्न और निवृत्ति=द्वेष से उत्पन्न प्रयत्न अपने आत्मा में देखे जाते हैं, ऐसी ही प्रवृत्ति और निवृत्ति पर-शरीर में देखी जाने पर वहाँ भी आत्मतत्त्व का अस्तित्व सिद्ध होता है।

॥ इति तृतीयाध्याये प्रथममाह्निकम् ॥

अथ तृतीयाऽध्याये द्वितीयमाह्निकम्

आत्मेन्द्रियार्थसन्निकर्षे ज्ञानस्य भावोऽभावश्च मनसो लिङ्गम् ॥१॥

आत्मा, इन्द्रिय और घट-पट आदि अर्थों का सन्निकर्ष होने पर ज्ञान का होना और न होना मन की सिद्धि में हेतु है।

तस्य द्रव्यत्वनित्यत्वे वायुना व्याख्याते ॥२॥

मन का द्रव्यत्व और नित्यत्व वायु (परमाणु) के समान ही समझना चाहिए।

प्रयत्नायौगपद्याज्ज्ञानायौगपद्याच्चैकम् ॥३॥

एक काल में अनेक प्रयत्न और एक काल में अनेक ज्ञान एकसाथ न होने के कारण यह सिद्ध होता है कि एक शरीर में एक ही मन है।

प्राणापाननिमेषोन्मेषजीवनमनोगतीन्द्रियान्तरविकाराः सुखदुःखेच्छाद्वेषप्रयत्नाश्चात्मनो लिङ्गानि ॥४॥

प्राण-अपान, निमेष-उन्मेष, जीवन, मनोगति, इन्द्रियान्तरविकार, सुख-दुःख, इच्छा-द्वेष, और प्रयत्न--आत्मा के लिङ्ग=चिह्न, साधक हेतु हैं।

तस्य द्रव्यत्वनित्यत्वे वायुना व्याख्याते ॥५॥

उस आत्मा का द्रव्य होना और नित्य होना वायुपरमाणु के विषय में कही गई रीति से व्याख्यात समझना चाहिए।

यज्ञदत्त इति सन्निकर्षे प्रत्यक्षाभावाद् दृष्टं लिङ्गं न विद्यते ॥६॥

'यह यज्ञदत्त है'—इन्द्रिय-अर्थ का ऐसा सन्निकर्ष होने पर भी आत्मा=साध्य और उसके साधक हेतु के सम्बन्ध का प्रत्यक्ष न होने से, अनुमानप्रमाण के आधार पर आत्मा की सिद्धि युक्त प्रतीत नहीं होती।

सामान्यतोदृष्टाच्चाविशेषः ॥७॥

सामान्यतोदृष्ट हेतु से भी ज्ञानादि का क्वचिदाश्रित तत्त्वमात्र सिद्ध होता है। इससे आत्मा की विशेष रूप से सिद्धि नहीं होती।

तस्मादागमिकः ॥८॥

अतः आत्मा की सिद्धि केवल आगम=वेदप्रमाण[1] से माननी चाहिए।

अहमिति शब्दस्य व्यतिरेकान्नागमिकम् ॥९॥

'अहम्' शब्द का पृथिव्यादि भूतों के विषय में प्रयोग न होने से तत्पदवाच्य आत्मा का अनुमान भी होता है। केवल आगम से ही आत्मा की सिद्धि नहीं होती। (मैं और मेरा का व्यवहार पृथिव्यादि द्रव्यों में नहीं पाया जाता, अतः पृथिव्यादि आठ द्रव्यों में से किसी को आत्मा मानना शास्त्रानुकूल नहीं होगा।)

---

१. यजुर्वेद [४०।७] में कहा है—**आत्मैवाभूद्विजानतः**। आत्मज्ञानी के लिए सारे प्राणी अपनी आत्मा के तुल्य ही हो जाते हैं।

बृहदारण्यकोपनिषद् [२।४।५] में कहा है—**आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः**। आत्मा जानने, श्रवण करने, मनन करने और ध्यान करने योग्य है।

द्वितीय अर्थ—'अहम्' = 'मैं हूँ'—ऐसी प्रतीति में शब्दप्रमाण के न होने से आत्मा को केवल आगमबोध्य मानना उचित नहीं है। (लोकव्यवहार में बिना शब्द-प्रमाण का नाम सुने भी प्रत्येक व्यक्ति 'अहम्' के रूप में आत्मा का अनुमान करता है।)

यदि दृष्टमन्वक्षमहं देवदत्तोऽहं यज्ञदत्त इति ॥१०॥

यदि 'मैं देवदत्त हूँ, मैं यज्ञदत्त हूँ' इत्यादि प्रतीतियों से आत्मा का प्रत्यक्ष हो जाता है तब उसकी सिद्धि के लिए अनुमानप्रमाण की क्या आवश्यकता है!

दृष्ट आत्मनि लिङ्गे एक एव दृढत्वात् प्रत्यक्षवत् प्रत्ययः ॥११॥

प्रत्यक्षसिद्ध होने पर भी आत्मा का दृढ़ निश्चयात्मक ज्ञान होने के लिए अनुमान-रसिक विद्वान् अनुमान से भी आत्मा की सिद्धि करते हैं।

देवदत्तो गच्छति यज्ञदत्तो गच्छतीत्युपचाराच्छरीरे प्रत्ययः ॥१२॥

'देवदत्त जाता है, यज्ञदत्त जाता है' आदि प्रयोग आत्मसम्बद्ध शरीर के लिए औपचारिक=गौण रूप से होता है।

सन्दिग्धस्तूपचारः ॥१३॥

(जब आत्मा और शरीर दोनों के लिए 'अहम्' पद का प्रयोग होता है तब) सन्देह होता है कि 'अहम्' पद का प्रयोग आत्मा के विषय में औपचारिक है या शरीर के विषय में।

अहमिति प्रत्यगात्मनि भावात् परत्राभावादर्थान्तरप्रत्यक्षः ॥१४॥

'अहम्—मैं हूँ'—यह प्रतीति स्वात्मविषयक ही होती है, परात्मविषयक नहीं, अतः 'अहम्' विषयक प्रत्यक्ष शरीर से भिन्न—आत्मा के विषय में ही होता है।

देवदत्तो गच्छतीत्युपचारादभिमानात्तावच्छरीरप्रत्यक्षोऽहंकारः ॥१५॥

'देवदत्त जाता है' आदि प्रयोग को औपचारिक मानना ठीक नहीं, क्योंकि अभिमान से अहंकार का प्रत्यक्ष शरीरविषयक ही है, आत्मविषयक नहीं।

सन्दिग्धस्तूपचारः ॥१६॥

उपर्युक्त उपचार में 'अहम्' विषयक प्रत्यक्ष को शरीरविषयक मानना भी तो संदिग्ध ही है।

न तु शरीरविशेषाद् यज्ञदत्तविष्णुमित्रयोर्ज्ञानं विषयः ॥१७॥

यज्ञदत्त और विष्णुमित्र के परस्पर भिन्न शरीर के प्रत्यक्ष होने पर भी उनके ज्ञान का प्रत्यक्ष नहीं होता है, अतः अहं भाव का शरीर में उपचार से ग्रहण होता है।

अहमिति मुख्ययोग्याभ्यां शब्दवद् व्यतिरेकाव्यभिचारात् विशेषसिद्धेर्नागमिकः ॥१८॥

मुख्य तथा प्रमाणसिद्ध अहंकारक ज्ञान के शरीर में न होने के कारण 'अहम्' पदार्थ आत्मा को केवल आगमप्रमाण या अनुमानप्रमाण से ही सिद्ध न समझना चाहिए अपितु आत्मा को प्रत्यक्षसिद्ध भी समझना चाहिए।

सुखदुःखज्ञाननिष्पत्त्यविशेषादैकात्म्यम् ॥१९॥

सुख-दुःख और ज्ञान की निष्पत्ति=उत्पत्ति समानरूप से पायी जाने से आत्मा एक ही है, ऐसा सिद्ध होता है।

व्यवस्थातो नाना ।।२०।।

व्यवस्था से=प्रतिशरीर भिन्न-भिन्न स्थिति के कारण, प्रत्येक देह में आत्मा अलग-अलग है।

शास्त्रसामर्थ्याच्च ।।२१।।

वेद-शास्त्र[1] के प्रमाण से भी आत्मा का नानात्व सिद्ध होता है।

।। इति तृतीयाऽध्याये द्वितीयमाह्निकम् ।।

---

१. जीवा ज्योतिरशीमहि।—ऋ० ७।३२।२६
शृण्वन्तु विश्वे अमृतस्य पुत्राः।—यजु० ११।५
एको बहूनां यो विदधाति कामान्।—कठोप० २।२।१३
इन सब स्थलों में जीवों, आत्माओं के अनेक होने का वर्णन है।

चतुर्थाध्याये प्रथममाह्निकम्

सदकारणवन्नित्यम् ॥१॥

जो पदार्थ भावरूप=सत्यस्वरूप है, जिसका अन्य कोई कारण भी नहीं, वह पदार्थ नित्य कहलाता है (ऐसी मूल प्रकृति ही इस जगत् का मूल उपादान कारण है)।

तस्य कार्यं लिङ्गम् ॥२॥

उस प्रकृति की सिद्धि के लिए कार्यरूप जगत्=पृथिवी, सूर्य, चन्द्र आदि ही प्रमाण हैं।

कारणभावात् कार्यभावः ॥३॥

कारण के होने से कार्य होता है। (कारण के अभाव से कार्य भी नहीं हो सकता जैसे बिना मिट्टी के घड़ा नहीं बन सकता।)

अनित्य इति विशेषतः प्रतिषेधभावः ॥४॥

'यह अनित्य है'—इस प्रकार नित्य का निषेधभाव ही विशेषरूप से नित्य पदार्थ की सिद्धि करता है।

अविद्या ॥५॥

मूल उपादानकारण को अनित्य सिद्ध करनेवाले सारे हेतु हेत्वाभास हैं, भ्रम हैं, अज्ञान हैं।

महत्यनेकद्रव्यवत्त्वात् रूपाच्चोपलब्धिः ॥६॥

महत्परिमाणवाले=स्थूल, अनेक द्रव्याश्रित=संयोग से निर्मित और रूपवाले पदार्थों का ही चाक्षुष प्रत्यक्ष होता है। (परमाणु में इन तीनों का अभाव है परन्तु परमाणु का प्रत्यक्ष न होने मात्र से परमाणु की असत्ता नहीं हो सकती।)

सत्यपि द्रव्यत्वे महत्त्वे रूपसंस्काराभावाद् वायोरनुपलब्धिः ॥७॥

द्रव्यत्व और महत्परिमाण के होने पर भी रूपसंस्कार का अभाव होने से वायु का चाक्षुष प्रत्यक्ष नहीं होता।

अनेकद्रव्यसमवायाद् रूपविशेषाच्च रूपोपलब्धिः ॥८॥

अवयवी में अनेक द्रव्यों के समवाय से और रूप में वैशिष्ट्य के अभिव्यक्त होने से रूप का प्रत्यक्ष होता है।

तेन रसगन्धस्पर्शेषु ज्ञानं व्याख्यातम् ॥९॥

उपर्युक्त रूप-प्रत्यक्ष व्यवस्था से ही रस, गन्ध तथा स्पर्श के प्रत्यक्ष प्रकार की भी व्याख्या समझ लेनी चाहिए।

तस्याभावादव्यभिचारः ॥१०॥

परमाणु में रूपविशेष का अभाव होने से (यदि उनका चाक्षुष प्रत्यक्ष नहीं होता तब भी) उक्त नियम में कोई व्यभिचार=दोष नहीं है।

संख्याः परिमाणानि पृथक्त्वं संयोगविभागौ परत्वापरत्वे कर्म च रूपिद्रव्यसमवायाच्चाक्षुषाणि ॥११॥

संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग-विभाग, परत्व-अपरत्व, कर्म और 'चकार' से स्नेह, द्रवता, वेग—इन सब का रूपवाले द्रव्य में समवाय होने से चाक्षुष प्रत्यक्ष होता है।

अरूपिष्वचाक्षुषाणि ॥१२॥

रूपरहित द्रव्यों में वर्तमान संख्यादि उपर्युक्त गुणों का चाक्षुष प्रत्यक्ष नहीं होता।

एतेन गुणत्वे भावे च सर्वेन्द्रियं ज्ञानं व्याख्यातम् ॥१३॥

इसी प्रकार गुणत्व तथा सत्ताजाति के विषय में सब इन्द्रियों द्वारा होनेवाला प्रत्यक्ष ज्ञान व्याख्यात समझना चाहिए।

॥ इति चतुर्थाऽध्याये प्रथममाह्निकम् ॥

अथ चतुर्थाऽध्याये द्वितीयमाह्निकम्

तत्पुनः पृथिव्यादि कार्यद्रव्यं त्रिविधं शरीरेन्द्रियविषयसंज्ञकम् ॥१॥

वे पृथिव्यादि कार्यद्रव्य भी शरीर, इन्द्रिय और विषय के भेद से तीन प्रकार के होते हैं।

प्रत्यक्षाप्रत्यक्षाणां संयोगस्याप्रत्यक्षत्वात् पञ्चात्मकं न विद्यते ॥२॥

प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष वस्तुओं के संयोग के अप्रत्यक्ष होने से शरीर को पञ्चभौतिक नहीं माना जा सकता।

गुणान्तराप्रादुर्भावाच्च न त्र्यात्मकम् ॥३॥

कारणगुणपूर्वक दूसरे गुणों (जल तथा तेज के प्रवाह एवं उष्णता गुण आदि) के प्रकट न हो सकने से शरीर त्रैभौतिक=तीन पदार्थों से बना भी नहीं है।

अणुसंयोगस्त्वप्रतिषिद्धः ॥४॥

अणु के संयोग का निषेध नहीं किया गया है। (पूर्वसूत्रों में शरीर के पञ्च-भौतिक या त्रैभौतिक होने का निषेध किया है परन्तु परमाणुओं के संयोग का निषेध नहीं किया है।)

तत्र शरीरं द्विविधं योनिजमयोनिजं च ॥५॥

शरीर दो प्रकार का है—योनिज और अयोनिज।

अनियतदिग्देशपूर्वकत्वात् ॥६॥

सर्गारम्भ में दिशा और देश पूर्वनियत न होने के कारण (ये शरीर अयोनिज कहलाते हैं) अथवा अयोनिज देहरचना के परमाणुपूर्वक होने से ये शरीर अयोनिज कहलाते हैं।

धर्मविशेषाच्च ॥७॥

(अयोनिज शरीर के कारण परमाणुओं में क्रिया तो) धर्म और अधर्मविशेष=पुण्य और पाप के कारण ही होती है।

समाख्याभावाच्च ॥८॥

प्रसिद्ध नाम (अग्नि, वायु आदि) पाये जाने से भी अयोनिज शरीर की सिद्धि होती है।

संज्ञाया आदित्वात् ॥९॥

संज्ञा=नाम के सर्वप्रथम होने से भी अयोनिज शरीर की सिद्धि होती है।

सन्त्ययोनिजाः ॥१०॥

उपर्युक्त प्रमाणों से सिद्ध हुआ कि अयोनिज शरीर भी होते हैं।

वेदलिङ्गाच्च ॥११॥

वेद[1] के प्रमाणों से भी अयोनिज शरीर सिद्ध हैं।

॥ इति चतुर्थाऽध्याये द्वितीयमाह्निकम् ॥

---

१. अथर्ववेद (३।२८।१) में कहा है—

एकैकया सृष्ट्या संबभूव यत्र गा असृजन्त भूतकृतो विश्वरूपाः।
यत्र विजायते यमिन्यपर्तुः सा पशून् क्षिणाति रिफती रुशति॥

यह सृष्टि एक परमात्मा और एक प्रकृति से उत्पन्न हुई। परमात्मा की ईक्षण-सामर्थ्य से पृथिवी ने गर्भ धारण किया। इस अमैथुनी सृष्टि में नाना प्रकार के जंगम, प्राणी, मनुष्य आदि और जीव गर्भधारक क्षेत्र प्रकट हुए। यह सृष्टि अपर्तुः—ऋतु, वीर्य-हीन अर्थात् अमैथुनी है, न कि मैथुनी। जिस उत्पन्न हुई सृष्टि में यमलजन्य=स्त्री-पुरुष संगतिजन्य सृष्टि विविध प्रकार से उत्पन्न होती है वह मैथुनी सृष्टि काम-चेष्टा के लिए आपस में हिंसा करती हुई अतएव क्रुद्ध हुई-हुई जीवों को नष्ट करती है।

अथ पञ्चमाऽध्याये प्रथममाह्निकम्

आत्मसंयोगप्रयत्नाभ्यां हस्ते कर्म ॥१॥

प्रयत्नवान् आत्मा का हाथ के साथ संयोग होने से कर्म=उत्क्षेपण आदि की उत्पत्ति होती है।

तथा हस्तसंयोगाच्च मुसले कर्म ॥२॥

उसी प्रकार हाथ का मूसल के साथ संयोग होने से मूसल में कर्म की उत्पत्ति होती है।

अभिघातजे मुसलादौ कर्मणि व्यतिरेकादकारणं हस्तसंयोगः ॥३॥

चोट देने से उत्पन्न हुए मूसल आदि में जो कर्म उत्पन्न होता है उसमें हाथ का मूसल के साथ संयोग कारण नहीं है क्योंकि हाथ के साथ प्रयत्नयुक्त आत्मा का संयोग नहीं रहता।

तथात्मसंयोगो हस्तकर्मणि ॥४॥

इसी प्रकार आत्मा का हाथ के साथ संयोग हाथ के उठनेरूप कर्म में भी कारण नहीं होता।

अभिघातान्मुसलसंयोगाद्धस्ते कर्म ॥५॥

(फिर मूसल उठने में कारण क्या है ?) चोट मारने से तथा मूसल के साथ हाथ का संयोग होने से हाथ में उत्क्षेपण कर्म की उत्पत्ति होती है।

आत्मकर्म हस्तसंयोगाच्च ॥६॥

हाथ के संयोग और वेग से शरीर में कर्म उत्पन्न होता है।

संयोगाभावे गुरुत्वात्पतनम् ॥७॥

हाथ का संयोग न रहने पर द्रव्य के भारी होने से वह द्रव्य नीचे गिरता है।

नोदनविशेषाभावान्नोर्ध्वं न तिर्यग्गमनम् ॥८॥

नोदन=प्रेरणाविशेष के न होने से गुरु द्रव्य ऊपर और इधर-उधर को न जाकर पृथिवी की ओर आता है।

प्रयत्नविशेषान्नोदनविशेषः ॥९॥

प्रयत्नविशेष से नोदनविशेष उत्पन्न होता है।

नोदनविशेषादुदसनविशेषः ॥१०॥

नोदनविशेष से उदसन=ऊर्ध्वगमन, उछाल उत्पन्न होता है।

हस्तकर्मणा दारककर्म व्याख्यातम् ॥११॥

हाथ की क्रिया से दारक=बालक की प्रयत्नहीन हाथ-पैर आदि संचालन-क्रिया की व्याख्या समझ लेनी चाहिए।

तथा दग्धस्य विस्फोटने ॥१२॥

उसी प्रकार जली हुई वस्तु के टूटने-फूटने अथवा फफोला पड़ने की क्रिया भी आत्मप्रेरणा के बिना ही होती है।

यत्नाभावे प्रसुप्तस्य चलनम् ॥१३॥

सोये हुए अथवा अचेत व्यक्ति के यत्न न करने पर भी उठकर चल देने आदि की क्रिया होती है।

तृणे कर्म वायुसंयोगात् ॥१४॥

तिनके में वायु के संयोग से कर्म उत्पन्न होता है।

मणिगमनं सूच्यभिसर्पणमित्यदृष्टकारणकम् ॥१५॥

मणि का चलना और अयस्कान्त=चुम्बक की ओर सूई आदि का सरकना चुम्बक और मणि में अदृष्ट आकर्षण-शक्ति के कारण होता है।

इषावयुगपत् संयोगविशेषाः कर्मान्यत्वे हेतुः ॥१६॥

धनुष की डोरी से भिन्न हुए बाण में प्रारम्भ से अन्त तक क्रमशः होनेवाले कर्मों के भिन्न होने में संयोगविशेष कारण बन जाते हैं।

नोदनादाद्यमिषोः कर्म तत्कर्मकारिताच्च संस्कारादुत्तरं तथोत्तरमुत्तरं च ॥१७॥

बाण का पहला कर्म तो नोदन=पुरुषप्रयत्न से उत्पन्न होता है और उस कर्म से उत्पन्न एक ही वेग नामक संस्कार से उत्तरोत्तर क्रम में उत्तरोत्तर कर्म की उत्पत्ति होती है।

संस्काराभावे गुरुत्वात् पतनम् ॥१८॥

किन्तु जब संस्कार नष्ट हो जाता है तब गुरुत्व=भारीपन के कारण बाण का पतन हो जाता है।

॥ इति पञ्चमाऽध्याये प्रथममाह्निकम् ॥

अथ पञ्चमाऽध्याये द्वितीयमाह्निकम्

नोदनाभिघातात् संयुक्तसंयोगाच्च पृथिव्यां कर्म ॥१॥

नोदन=प्रेरणारूप अभिघात से और संयुक्त पदार्थों के साथ संयोग से पृथिवी में कर्म=गमन और भूकम्प आदि की उत्पत्ति होती है।

तद्विशेषेणादृष्टकारितम् ॥२॥

पृथिवी का गतिक्रिया विशेष रूप से अदृष्ट आकर्षण-शक्ति के कारण है।

अपां संयोगाभावे गुरुत्वात् पतनम् ॥३॥

संयोग के अभाव से भारी होने के कारण जलों का पतन=वर्षण होता है।

द्रवत्वात् स्यन्दनम् ॥४॥

द्रवत्व=गीला और पतला होने के कारण जल नीचे की ओर बहते हैं।

नाड्यो वायुसंयोगादारोहणम् ॥५॥

प्रखर सूर्य-किरणों और वायु के संयोग से जल वाष्परूप में ऊपर चढ़ता है।

नोदनापीडनात् संयुक्तसंयोगाच्च ॥६॥

प्रबल वायु के प्रेरण और दबाव तथा संयुक्तसंयोग = धक्के से भी पानी ऊपर को चढ़ता है।

वृक्षाभिसर्पणमित्यदृष्टकारितम् ॥७॥

वृक्षमूल में डाले हुए जल का पूरे वृक्ष में उद्गमन अदृष्ट = ईश्वरीय व्यवस्था के कारण होता है।

अपां संघातो विलयनं च तेजः संयोगात् ॥८॥

जलों का जम जाना और गलकर तरल हो जाना विद्युत् आदि बलवत्तर तेज के संयोग से होता है।

तत्र विस्फूर्जथुर्लिङ्गम् ॥९॥

मेघमण्डल में ठहरे हुए जलों के जमाव में तेजसंयोग होने का प्रमाण उनमें होने-वाली कड़क और चमक है।

वैदिकं च ॥१०॥

वेद[1] के प्रमाण से भी इसी वैदिक सिद्धान्त की सम्पुष्टि होती है।

अपां संयोगाद् विभागाच्च स्तनयित्नोः ॥११॥

जलों के संयोग और विभाग से बिजली की उत्पत्ति और कड़क होती है।

पृथिवीकर्मणा तेजःकर्म वायुकर्म च व्याख्यातम् ॥१२॥

पृथिवी-कर्म के साथ-साथ सामान्यरूप से तेज तथा वायु के कर्मों की भी व्याख्या समझ लेनी चाहिए।

अग्नेरूर्ध्वज्वलनं वायोस्तिर्यक् पवनमणूनां मनसश्चाद्यं कर्मादृष्टकारितम् ॥१३॥

अग्नि का ऊपर की ओर को जलना, वायु का तिरछा बहना, परमाणु तथा मन के प्रथम कर्म का उत्पादन अदृष्ट के कारण (परमात्मा की प्रेरणा से) होता है।

हस्तकर्मणा मनसः कर्म व्याख्यातम् ॥१४॥

मनःकर्म की व्याख्या हस्तकर्म की व्याख्या के समान समझनी चाहिए। (जैसे जीवात्मा की प्रेरणा से हाथ काम करता है, वैसे ही मन भी।)

आत्मेन्द्रियमनोऽर्थसन्निकर्षात् सुखदुःखे ॥१५॥

आत्मा, इन्द्रिय, मन और विषय के परस्पर सम्बन्ध से आत्मा में सुख-दुःख आदि की अनुभूति होती है।

तदनारम्भ आत्मस्थे मनसि शरीरस्य दुःखाभावः स योगः ॥१६॥

मन के आत्मा में स्थित हो जाने पर, इन्द्रियों द्वारा उनके विषयों का ग्रहण न होने से शारीरिक सुख-दुःख का अभाव हो जाता है—वह योग = समाधिलाभ कहलाता है।

---

१. अग्ने गर्भो अपामसि। (यजु० १२।३७) यह अग्नि जलों का गर्भ रूप है।

अपसर्पणमुपसर्पणमशितपीतसंयोगाः कार्यान्तरसंयोगाश्चेत्यदृष्टकारितानि ॥१७॥

पूर्वशरीर से आत्मा, मन, इन्द्रिय आदि का बाहर निकल जाना, देहान्तर में प्रवेश कर जाना, खान-पान के सम्बन्ध से होनेवाले क्रियाकलाप और इन्द्रिय, प्राण आदि के सम्बन्ध से होनेवाले कर्म—ये सब अदृष्ट—प्रारब्ध-कर्मानुसार होते हैं।

तदभावे संयोगाभावोऽप्रादुर्भावश्च मोक्षः ॥१८॥

शरीरधारक मनःकर्म के अभाव होने पर शरीर से आत्मा के संयोग का अभाव और शरीरान्तर का प्रादुर्भाव न होना ही मोक्ष कहाता है।

द्रव्यगुणकर्मनिष्पत्तिवैधर्म्याद्भावस्तमः ॥१९॥

द्रव्य, गुण और कर्म की सिद्धि के वैधर्म्य से अन्धकार वस्तुतः तेजोऽभाव ही है। (अन्धकार कोई स्वतन्त्र पदार्थ नहीं है। प्रकाश का अभाव ही अन्धकार है।)

तेजसो द्रव्यान्तरेणावरणाच्च ॥२०॥

तथा, तेज के अन्य द्रव्य द्वारा रुक जाने से भी प्रकाश का अभाव—अन्धकार होता है, अतः वह तेजोऽभाव ही है।

दिक्कालावाकाशं च क्रियावद्वैधर्म्यान्निष्क्रियाणि ॥२१॥

दिशा, काल और आकाश—क्रियाशून्य पदार्थ हैं क्योंकि ये क्रियावाले पदार्थों से विरुद्ध धर्मी हैं।

एतेन कर्माणि गुणाश्च व्याख्याताः ॥२२॥

इसी उपर्युक्त कथन से कर्म और गुणों की व्याख्या भी समझ लेनी चाहिए (जैसे दिशा आदि अमूर्त होने से निष्क्रिय हैं, वैसे ही गुण और कर्म भी निष्क्रिय हैं)।

निष्क्रियाणां समवायः कर्मभ्यो निषिद्धः ॥२३॥

क्रियारहित गुण तथा कर्मपदार्थों का द्रव्यों के साथ समवाय सम्बन्ध ही होता है। यह समवाय क्रियाओं से निषिद्ध—रहित है, इसकी सीमा में क्रियाओं का प्रवेश नहीं है।

कारणं त्वसमवायिनो गुणाः ॥२४॥

गुण अपने कार्यों के प्रति असमवायिकारण होते हैं।

गुणैर्दिग्व्याख्याता ॥२५॥

गुणपदार्थों के व्याख्यान से दिशा की व्याख्या भी समझ लेनी चाहिए।

कारणेन कालः ॥२६॥

निमित्त कारण होने से काल का व्याख्यान भी हो चुका। (काल निमित्त कारण है, अतः उसे सक्रिय नहीं कह सकते।)

॥ इति पञ्चमाध्याये द्वितीयमाह्निकम् ॥

अथ षष्ठाध्याये प्रथममाह्निकम्

बुद्धिपूर्वा वाक्यकृतिर्वेदे ॥१॥

वेदों के वाक्यों की रचना बुद्धिपूर्वक है (ईश्वरीय ज्ञान होने के कारण)।

ब्राह्मणे संज्ञाकर्म सिद्धिलिङ्गम् ॥२॥

ऐतरेयादि ब्राह्मणग्रन्थों में यज्ञादि का नामकरण भी बुद्धिपूर्वक वेदरचना का साधक चिह्न है।

बुद्धिपूर्वो ददातिः ॥३॥

वेद में दान का निर्देश भी बुद्धिपूर्वक है (अतः वेद ईश्वरीय ज्ञान है)।

तथा प्रतिग्रहः ॥४॥

उसी प्रकार दान का स्वीकार भी वेद की ज्ञानपूर्वक रचना का प्रमाण है।

आत्मान्तरगुणानामात्मान्तरेऽकारणत्वात् ॥५॥

एक आत्मा के गुण अन्य आत्मा में कारण न होने से एक का फल दूसरे को नहीं मिलता (किन्तु उसी आत्मा में पुण्यादि का उत्पादन करते हैं)।

तद् दुष्टभोजने न विद्यते ॥६॥

वह अभ्युदयरूप फल दूषित व्यक्तियों द्वारा ऐश्वर्य भोगते रहने पर नहीं रहता है।

दुष्टं हिंसायाम् ॥७॥

निषिद्ध आचार में लीन, दूसरों को कष्ट देनेवाला पुरुष ही दुष्ट कहलाता है।

तस्य समभिव्याहारतो दोषः ॥८॥

उस दुष्ट व्यक्ति के समान व्यवहार करने से समाज में दोष उत्पन्न हो जाते हैं।

तद् दुष्टे न विद्यते ॥९॥

वह सामाजिक दोषरूप फल, श्रेष्ठ पुरुष के समान व्यवहार करने पर नहीं होता।

पुनर्विशिष्टे प्रवृत्तिः ॥१०॥

निरन्तर श्रेष्ठ पुरुषों के प्रति प्रवृत्ति—झुकाव रखना चाहिए।

समे हीने वा प्रवृत्तिः ॥११॥

अपने से विशिष्ट पुरुषों के अभाव में अपने समान और उसके भी अलाभ होने पर अपने से हीन अदुष्टपुरुष को आर्थिक सहयोग आदि देना चाहिए।

एतेन हीनसमविशिष्टधार्मिकेभ्यः परस्वादानं व्याख्यातम् ॥१२॥

जैसे दान के विषय में विशिष्ट, सम तथा हीन व्यक्ति का नियम है वैसे ही दान लेने में भी अधम, मध्यम और उत्तम धार्मिक पुरुषों का नियम समझना चाहिए। (इसी प्रकार के प्रतिग्रह से पुण्य होता है।)

तथा विरुद्धानां त्यागः ॥१३॥

उसी प्रकार निर्धारित व्यवस्थाओं से विपरीत दान का परित्याग करना उचित है।

हीने परे त्यागः ॥१४॥

यदि दाता आर्थिक अथवा बौद्धिक दृष्टि से हीन हो तो उसके दान का परित्याग कर देना चाहिए।

समे आत्मत्यागः परत्यागो वा ॥१५॥

दाता और आदाता के समान होने पर चाहे आदाता=लेनेवाला प्राप्त होनेवाले सहयोग का परित्याग कर दे अथवा दाता स्वयं सहयोग की भावना को त्याग दे।

विशिष्टे आत्मत्याग इति ॥१६॥

यदि दाता अपने से उत्तम धार्मिक हो तो आदाता उसके द्वारा दिये जानेवाले सहयोग को स्वयं त्याग दे। यह प्रसंग समाप्त हुआ।

॥ इति षष्ठाध्याये प्रथममाह्निकम् ॥

अथ षष्ठाध्याये द्वितीयमाह्निकम्

दृष्टादृष्टप्रयोजनानां दृष्टाभावे प्रयोजनमभ्युदयाय ॥१॥

दृष्ट और अदृष्ट (प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष) फल देनेवाले दो प्रकार के कर्मों में प्रत्यक्ष फल के अभाव में परलोक सुखरूप अदृष्ट फल की कल्पना करनी चाहिए।

अभिषेचनोपवासब्रह्मचर्यगुरुकुलवासवानप्रस्थयज्ञदानप्रोक्षण-दिङ्नक्षत्रमन्त्रकालनियमाश्चादृष्टाय ॥२॥

स्नान, उपवास, ब्रह्मचर्य, गुरुकुलवास, वानप्रस्थ, यज्ञ, दान, प्रोक्षण=यज्ञ के सुवा आदि की जल द्वारा शुद्धि, दिक्=पूर्वादि दिशाओं में नियतरूप से यजमान आदि का बैठना, नक्षत्र=पुष्य आदि विहित नक्षत्रों में संस्कार आदि कर्म करना, मन्त्र=मन्त्रोच्चारणपूर्वक यज्ञादि करना, काल=उत्तरायण आदि समयविशेष में कर्म करना, नियम=समाज व शासनव्यवस्था का सम्यक् परिपालन—और भी ऐसे ही कर्म अदृष्ट फल के लिए हैं।

चातुराश्रम्यमुपधा अनुपधाश्च ॥३॥

ब्रह्मचर्य आदि चारों आश्रमधर्मों के अनुष्ठान से भी अदृष्ट फल की उत्पत्ति होती है तथा उपधा और अनुपधा से भी अदृष्ट=धर्माधर्म की उत्पत्ति होती है।

भावदोष उपधाऽदोषोऽनुपधा ॥४॥

कर्माचरण की भावना में राग आदि दोष ही उपधा है और उस भावना में श्रद्धा, आस्तिक्य बुद्धि आदि अनुपधा है।

यदिष्टरूपरसगन्धस्पर्शं प्रोक्षितमभ्युक्षितं च तच्छुचि ॥५॥

जो मनभावने रूप, रस, गन्ध, स्पर्श—अपना गाढ़ा पसीना बहाकर कमाये गये हों और समाज वा शासन द्वारा अनुमोदित हों वही रस-रूप आदि पवित्र हैं।

अशुचीति शुचिप्रतिषेधः ॥६॥

जो पवित्र का उलटा है, वही अपवित्र है।

अर्थान्तरं च ॥७॥

विधान किये हुए पदार्थ से भिन्न दूसरा पदार्थ भी अशुद्ध है।

अयतस्य शुचिभोजनादभ्युदयो न विद्यते नियमाभावाद्विद्यते वार्थान्तरत्वाद्यमस्य ॥८॥

व्यवस्था का अभाव हो जाने से, अहिंसा आदि यमों का पालन न करनेवाले व्यक्ति का पवित्र उपभोगों (शुद्ध भोजन करने) से कल्याण नहीं होता अथवा जो व्यक्ति यमों का पालन नहीं करता उसके लिए भी पवित्र साधनों से प्राप्त उपभोग कल्याणरूप होते हैं।

असति चाभावात् ॥९॥

उपभोग के साधनों का पवित्र होना और अहिंसा आदि यमों का पालन करना—इन दोनों में से किसी एक के न रहने पर भी तज्जन्य अभ्युदय नहीं होता।

सुखाद्रागः ॥१०॥

सुख से राग—विषयों में आसक्ति उत्पन्न होती है।

तन्मयत्वाच्च ॥११॥

विषयों में तन्मय हो जाने से भी राग की उत्पत्ति होती है।

अदृष्टाच्च ॥१२॥

अदृष्ट=पूर्वजन्मार्जित संस्कार से भी राग की उत्पत्ति होती है।

जातिविशेषाच्च ॥१३॥

जातिविशेष से भी राग की उत्पत्ति होती है।

इच्छाद्वेषपूर्विका धर्माधर्मयोः प्रवृत्तिः ॥१४॥

मनुष्य की इच्छा राग और द्वेषपूर्वक धर्माधर्म में प्रवृत्त होती है।

तत्संयोगो विभागः ॥१५॥

उस धर्म और अधर्म की प्रवृत्ति से जन्म और मरण होता है।

आत्मकर्मसु मोक्षो व्याख्यातः ॥१६॥

आत्मज्ञान प्राप्त करानेवाले कर्मों से मुक्त होना वेद में कहा गया है।

॥ इति षष्ठाध्यायस्य द्वितीयमाह्निकम् ॥

अथ सप्तमाध्याये प्रथममाह्निकम्

उक्ता गुणाः ॥१॥

गुणों का वर्णन हो गया।

पृथिव्यादिरूपरसगन्धस्पर्शा द्रव्यानित्यत्वादनित्याश्च ॥२॥

पृथिवी, जल, तेज तथा वायु के गन्ध, रस, रूप तथा स्पर्शगुण पृथिव्यादि के अनित्य होने से अनित्य ही होते हैं।

एतेन नित्येषु नित्यत्वमुक्तम् ॥३॥

इस कथन से यह भी स्पष्ट है कि नित्य द्रव्यों के उपर्युक्त गुण नित्य होते हैं।

अप्सु तेजसि वायौ च नित्या द्रव्यनित्यत्वात् ॥४॥

द्रव्यों के नित्य होने से जल, अग्नि और वायु के परमाणुओं में रहनेवाले गुण भी नित्य ही हैं।

अनित्येष्वनित्या द्रव्यानित्यत्वात् ॥५॥

द्रव्यों के अनित्य होने से अनित्य द्रव्यों में गुण भी अनित्य होते हैं।

कारणगुणपूर्वकाः पृथिव्यां पाकजाः ॥६॥

कार्यरूप पृथिवी में अन्य द्रव्यों के साथ पकने से उत्पन्न हुए रस, रूप और स्पर्श-गुण अपने-अपने कारणों के गुणों से आगे हुए होते हैं।

एकद्रव्यत्वात् ॥७॥

(श्याम-रक्त विरोधी गुणों के) एक द्रव्य अधिकरणवाले होने से भी उपर्युक्त कथन की पुष्टि और सिद्धि होती है।

अणोर्महतश्चोपलब्ध्यनुपलब्धी नित्ये व्याख्याते ॥८॥

अणु और महत् की उपलब्धि और अनुपलब्धि नित्य कही गई है।

कारणबहुत्वाच्च ॥९॥

कारणों के अनेक होने से महत् परिमाण की उत्पत्ति होती है।

अतो विपरीतमणु ॥१०॥

महत्परिमाण से विपरीत जो परिमाण है, वह अणुपरिमाण कहलाता है।

अणु महदिति तस्मिन् विशेषभावात् विशेषाभावाच्च ॥११॥

'यह अणु है' और 'यह महत् है', एक वस्तु में परिमाणविषयक इस प्रकार का जो व्यवहार होता है, उस पदार्थ में विशेष अपकर्ष के होने से अणु और विशेष के न होने से महत् व्यवहार होता है।

एककालत्वात् ॥१२॥

एक काल में होने से अणु और महत् का व्यवहार होता है। (जिस काल में आँवले को बेल से छोटा कहते हैं, उसी काल में आँवले को बेर से बड़ा कहते हैं।)

दृष्टान्ताच्च ॥१३॥

दृष्टान्त = उदाहरण से भी पूर्वोक्त कथन की सिद्धि होती है।

अणुत्वमहत्वयोरणुत्वमहत्वभावः कर्मगुणैर्व्याख्यातः ॥१४॥

अणु और महत् परिमाणों में अन्य अणु और महत् परिमाण का अभाव है यह तथ्य कर्म और गुणों द्वारा कह दिया गया है।

कर्मभिः कर्माणि गुणैश्च गुणा व्याख्याताः ॥१५॥

कर्मों से कर्म और गुणों से गुणों का व्याख्यान कर दिया गया।

अणुत्वमहत्त्वाभ्यां कर्मगुणाश्च व्याख्याताः ॥१६॥

अणुत्व और महत्त्व के व्याख्यान से कर्म और गुण की भी व्याख्या हो गई।

एतेन दीर्घत्वह्रस्वत्वे व्याख्याते ॥१७॥

इसीसे दीर्घ और ह्रस्व परिमाण भी कह दिये गये।

अनित्येऽनित्यम् ॥१८॥

अनित्य द्रव्य में उपर्युक्त चारों परिमाण—अणुत्व, महत्त्व, दीर्घत्व, ह्रस्वत्व अनित्य होते हैं।

नित्ये नित्यम् ॥१९॥

नित्य द्रव्यों में परिमाण गुण भी नित्य होता है।

नित्यं परिमण्डलम् ॥२०॥

गोल अथवा वर्तुलाकार परमाणु का परिमाण भी नित्य होता है।

अविद्या च विद्यालिङ्गम् ॥२१॥

अविद्या = अज्ञान, विद्या = ज्ञान का अनुमापक लक्षण है।

विभवान् महानाकाशस्तथा चात्मा ॥२२॥

व्यापक होने से आकाश और परमात्मा महत् परिमाणयुक्त हैं।

तदभावादणु मनः ॥२३॥

विभुत्व = सर्वव्यापकत्व के अभाव से मन अथवा मनवाला जीवात्मा अणु-परिमाणवाला है।

गुणैर्दिग् व्याख्याता ॥२४॥

गुणों के द्वारा दिक् = दिशा द्रव्य का भी व्याख्यान हो गया समझना चाहिए।

कारणेन कालः ॥२५॥

कारण के समान ही काल का भी व्याख्यान समझना चाहिए।

॥ इति सप्तमाध्याये प्रथममाह्निकम् ॥

अथ सप्तमाध्याये द्वितीयमाह्निकम्

रूपरसगन्धस्पर्शाव्यतिरेकादर्थान्तरमेकत्वम् ॥१॥

रूप, रस, गन्ध और स्पर्श गुणों से भिन्न होने के कारण एक-दो आदि संख्या रूपादि गुणों से भिन्न वस्तु है।

तथा पृथक्त्वम् ॥२॥

वैसे ही पृथक्त्व गुण भी रूपादि से भिन्न समझना चाहिए।

एकत्वैकपृथक्त्वयोरेकत्वैकपृथक्त्वाभावोऽणुत्वमहत्त्वाभ्यां व्याख्यातः ॥३॥

एकत्व और पृथक्त्व गुण में दूसरे एकत्व और दूसरे पृथक्त्व का अभाव है, यह तथ्य अणुत्व और महत्त्व के व्याख्यान से व्याख्यात समझना चाहिए।

निःसंख्यत्वात् कर्मगुणानां सर्वैकत्वं न विद्यते ॥४॥

गुण और कर्म के संख्यारहित होने से सब पदार्थों में एकत्व संख्या नहीं रहती।

भ्रान्तं तत् ॥५॥

'एकं कर्म, एकं रूपम्'—ऐसा लोकज्ञान भ्रममूलक है।

एकत्वाभावाद्भक्तिस्तु न विद्यते ॥६॥

एकत्व का अभाव होने से तो भाक्त=गौण प्रयोग भी नहीं रहता।

कार्यकारणयोरेकत्वैकपृथक्त्वाभावादेकत्वैकपृथक्त्वं न विद्यते ॥७॥

समान जातीय कार्य और कारण में एकत्व और एकपृथक्त्व के अभाव से एकत्व और एकपृथक्त्व नहीं है। (भाव यह है कि कार्य और कारण एक नहीं हो सकते।)

एतदनित्ययोर्व्याख्यातम् ॥८॥

यह एकत्व और एकपृथक्त्व की अनित्यता का व्याख्यान समझना चाहिए।

अन्यतरकर्मज उभयकर्मजः संयोगजश्च संयोगः ॥९॥

दो द्रव्यों में से किसी एक द्रव्य की क्रिया से उत्पन्न, दोनों द्रव्यों की क्रिया से उत्पन्न और संयोग से उत्पन्न होनेवाला संयोग गुण कहाता है।

एतेन विभागो व्याख्यातः ॥१०॥

इसीसे विभाग गुण की भी व्याख्या समझ लेनी चाहिए।

संयोगविभागयोः संयोगविभागाभावोऽणुत्वमहत्त्वाभ्यां व्याख्यातः ॥११॥

संयोग और विभाग में संयोग और विभाग का अभाव है—यह अणुत्व और महत्त्व के द्वारा व्याख्यात समझना चाहिए।

कर्मभिः कर्माणि गुणैर्गुणा अणुत्वमहत्त्वाभ्यामिति ॥१२॥

कर्मों से कर्म, गुणों से गुण अणुत्व और महत्त्व से व्याख्यात समझ लेने चाहिएँ। यह प्रकरण समाप्त हुआ।

युतसिद्ध्यभावात् कार्यकारणयोः संयोगविभागौ न विद्येते ॥१३॥

युतसिद्धि के अभाव से (जुड़े हुए न होने से) कार्य और कारण में परस्पर संयोग और विभाग नहीं होते।

गुणत्वात् ॥१४॥

शब्द के गुण होने से द्रव्य और गुण में संयोग और विभाग नहीं मान सकते।

गुणोऽपि विभाव्यते ॥१५॥

रूप, रस आदि गुण भी शब्द के द्वारा प्रतिपादित किया जाता है।

निष्क्रियत्वात् ॥१६॥

क्रियारहित होने से शब्द का अर्थ के साथ संयोगसम्बन्ध नहीं है क्योंकि संयोग क्रिया से उत्पन्न होता है।

असति नास्तीति च प्रयोगात् ॥१७॥

पदार्थ के न होने पर भी 'यह नहीं है'—ऐसा प्रयोग होने से भी शब्द को संयोगात्मक नहीं मान सकते।

शब्दार्थावसम्बन्धौ ॥१८॥

शब्द और अर्थ परस्पर संयोगसम्बन्धरहित हैं।

संयोगिनो दण्डात् समवायिनो विशेषाच्च ॥१६॥

संयोगसम्बन्ध वाले दण्ड से तथा समवायसम्बन्ध वाले हस्त आदि से शब्द का विशेष=भेद है अतः शब्द का अर्थ के साथ संयोग या समवायसम्बन्ध नहीं हो सकता।

सामयिकः शब्दादर्थप्रत्ययः ॥२०॥

शब्द से अर्थ की प्रतीति ईश्वरीय प्रेरणा से होती है।

एकदिक्काभ्यामेककालाभ्यां सन्निकृष्टविप्रकृष्टाभ्यां परमपरं च ॥२१॥

एक ही दिशा में, एक ही काल में रहनेवाले दो मूर्त्त द्रव्यों के समीप और दूर होने से एक-दूसरे की अपेक्षा वहाँ परत्व और अपरत्व गुण व्यवहृत होते हैं।

कारणपरत्वात् कारणापरत्वाच्च ॥२२॥

कारण के दूर और समीप होने से भी परत्व और अपरत्व होता है।

परत्वापरत्वयोः परत्वापरत्वाभावोऽणुत्वमहत्त्वाभ्यां व्याख्यातः ॥२३॥

परत्व और अपरत्व में परत्व और अपरत्व का अभाव अणुत्व और महत्त्व के व्याख्यान से व्याख्यात समझ लेना चाहिए।

कर्मभिः कर्माणि ॥२४॥

कर्म में कर्म नहीं होता—इस व्याख्यान से ही कर्म में परत्व और अपरत्व नहीं होता—यह स्पष्ट हो जाता है।

गुणैर्गुणाः ॥२५॥

गुण में गुण के अभाव के वर्णन से ही गुण में परत्व और अपरत्व का अभाव स्पष्ट हो जाता है।

इहेदमिति यतः कार्यकारणयोः स समवायः ॥२६॥

जिससे कार्य और कारण में ऐसा प्रतीत होता है कि इस आधार में यह आधेय है (इसमें यह है) वह समवाय नामक सम्बन्ध समझा जाता है।

द्रव्यत्वगुणत्वप्रतिषेधो भावेन व्याख्यातः ।।२७।।

द्रव्यत्व और गुणत्व का निषेध भावसत्ता जाति के व्याख्यान द्वारा व्याख्यात समझना चाहिए।

तत्त्वं भावेन ।।२८।।

सत्ता के समान ही समवाय भी एक अतएव नित्य है।

।। इति सप्तमाध्याये द्वितीयमाह्निकम् ।।

अथाष्टमाध्याये प्रथममाह्निकम्

द्रव्येषु ज्ञानं व्याख्यातम् ॥१॥

पृथिव्यादि द्रव्यों के विषय में ज्ञान की व्याख्या हो चुकी।

तत्रात्मा मनश्चाप्रत्यक्षे ॥२॥

उन द्रव्यों में आत्मा और मन का प्रत्यक्ष नहीं होता।

ज्ञाननिर्देशे ज्ञाननिष्पत्तिविधिरुक्तः ॥३॥

ज्ञान-निर्देश के प्रसङ्ग (३।१।१८) में ज्ञान की उत्पत्ति का प्रकार बता दिया गया है।

गुणकर्मसु सन्निकृष्टेषु ज्ञाननिष्पत्तेर्द्रव्यं कारणम् ॥४॥

इन्द्रियों से सम्बद्ध गुण तथा कर्मों के ज्ञान में द्रव्य कारण है। (इन्द्रियों के साथ गुण और कर्मों का संयोग होने पर रूप और गति आदि का ज्ञान होता है।)

सामान्यविशेषेषु सामान्यविशेषाभावात्तत एव ज्ञानम् ॥५॥

सामान्य और विशेषों में दूसरे सामान्य और दूसरे विशेष के अभाव से उससे ही सामान्यविशेषविषयक ज्ञान हो जाता है।

सामान्यविशेषापेक्षं द्रव्यगुणकर्मसु ॥६॥

किन्तु द्रव्य-गुण-कर्मविषयक ज्ञान—इन सबमें रहनेवाले सामान्यविशेष ज्ञान की अपेक्षा रखता है।

द्रव्ये द्रव्यगुणकर्मापेक्षम् ॥७॥

द्रव्यविषयक सविकल्पक ज्ञान द्रव्य-गुण-कर्म की अपेक्षा=सहयोग से उत्पन्न होता है।

गुणकर्मसु गुणकर्माभावाद् गुणकर्मापेक्षं न विद्यते ॥८॥

गुण तथा कर्मों में गुण तथा कर्मों का अभाव रहने के कारण गुण तथा कर्म के ज्ञान की उत्पत्ति में गुण एवं कर्म की अपेक्षा नहीं होती है।

समवायिनः श्वैत्यात् श्वैत्यबुद्धेश्च श्वेते बुद्धिस्ते एते कार्यकारणभूते ॥९॥

समवाय=नित्य सम्बन्ध से वर्तमान श्वेतगुण और श्वेतगुणविषयक विशेष ज्ञान से श्वेतपदार्थ में जो विशेष ज्ञान उत्पन्न होता है—वे दोनों कार्य-कारणभावयुक्त होते हैं।

द्रव्येष्वनितरेतरकारणाः ॥१०॥

अनेक द्रव्यों में जो अनेक ज्ञान उत्पन्न होते हैं, वे एक-दूसरे के कारण नहीं हैं।

कारणायौगपद्यात् कारणक्रमाच्च घटपटादिबुद्धीनां क्रमो न हेतुफलभावात् ॥११॥

ज्ञान के कारणों के युगपत् = एकसाथ न होने से तथा कारणों के क्रमपूर्वक होने से ही घट-पट आदि ज्ञानों में आगा-पीछा होता है, उनमें परस्पर कार्य-कारणभाव होने से नहीं।

॥ इत्यष्टमाध्याये प्रथममाह्निकम् ॥

अथाऽष्टमाध्याये द्वितीयमाह्निकम्

अयमेष त्वया कृतं भोजयैनमिति बुद्ध्यपेक्षम् ॥१॥

'यह है', 'वह है', 'यह तूने किया है', 'इसको भोजन कराओ'—ऐसा प्रयोग-जन्य ज्ञान बुद्धि की अपेक्षा रखता है।

दृष्टेषु भावाददृष्टेष्वभावात् ॥२॥

प्रत्यक्ष हुए पदार्थों में होने से और अप्रत्यक्ष पदार्थों में न होने से—होना और न होना माना जाता है।

अर्थ इति द्रव्यगुणकर्मसु ॥३॥

द्रव्य-गुण-कर्म में 'अर्थ' ऐसा व्यवहार किया जाता है। (प्रस्तुत शास्त्र में अर्थ का तात्पर्य है—द्रव्य-गुण और कर्म।)

द्रव्येषु पञ्चात्मकत्वं प्रतिषिद्धम् ॥४॥

कार्य-द्रव्यों में पञ्चात्मकता = पञ्चभूतों का निषेध किया गया है।

भूयस्त्वाद् गन्धवत्त्वाच्च पृथिवी गन्धज्ञाने प्रकृतिः ॥५॥

बहुत होने से और गन्धवाली होने से पृथिवी गन्ध का ज्ञान करनेवाली नासिका इन्द्रिय में उपादान कारण है। (गन्धज्ञापक घ्राण का उपादान कारण पृथिवी ही है।)

तथापस्तेजोवायुश्च रसरूपस्पर्शाविशेषात् ॥६॥

इसी प्रकार रस, रूप तथा स्पर्श के अधिक होने और रसादि समवायित्व होने के कारण जिह्वा, चक्षु तथा त्वक् इन्द्रियों के उपादान भी क्रमशः जल, तेज और वायु हैं।

॥ इत्यष्टमाध्याये द्वितीयमाह्निकम् ॥

अथ नवमाध्याये प्रथममाह्निकम्

क्रियागुणव्यपदेशाभावात् प्रागसत् ॥१॥

क्रिया और गुण का व्यवहार न होने से कार्योत्पत्ति से पूर्व कार्य नहीं था, इस प्रतीति से कार्य का 'प्रागभाव' सिद्ध होता है।

सदसत् ॥२॥

कारणरूप से विद्यमान अतएव सत् (घटादि) पदार्थ भी मुग्दरपात आदि से ध्वस्त हो जाता है, इस प्रतीति से 'ध्वंसाभाव' भी सिद्ध हो जाता है।

असतः क्रियागुणव्यपदेशाभावादर्थान्तरम् ॥३॥

असत् = अभाव, अविद्यमान से सत् = भाव, विद्यमान भिन्न पदार्थ है क्योंकि असत् में क्रिया और गुण का व्यवहार नहीं होता।

सच्चासत् ॥४॥

विद्यमान पदार्थ भी अभावरूप कहा जाता है, इस प्रतीति से 'अन्योन्याभाव' भी सिद्ध होता है। (घट पट नहीं और पट घट नहीं। दोनों के विद्यमान रहते हुए भी दोनों का एक-दूसरे से भेद है।)

यच्चान्यदसदतस्तदसत् ॥५॥

पूर्वोक्त तीनों अभावों से भिन्न जो एक और अभाव है वह चौथा 'अत्यन्ताभाव' कहलाता है।

असदिति भूतप्रत्यक्षाभावाद् भूतस्मृतेर्विरोधिप्रत्यक्षवत् ॥६॥

'अब नहीं है'—ऐसा जो ज्ञान है वह भूत = उत्पन्न होकर नष्ट हुए घटादि के प्रत्यक्ष न होने से, परन्तु भूत का स्मरण हो आने से 'विरोधिप्रत्यक्ष' के समान है।

तथाऽभावे भावप्रत्यक्षत्वाच्च ॥७॥

इसी प्रकार असत् में भी सत् के प्रत्यक्ष होने से विपरीत लक्षण का बोध होना सम्भव है। (भाव के प्रत्यक्षयोग्य होने पर प्रध्वंसाभाव की भाँति प्रागभाव का भी प्रत्यक्ष होता है।)

एतेनाघटोऽगौरधर्मश्च व्याख्यातः ॥८॥

इसी रीति से 'यह घट नहीं है', 'गाय नहीं है', 'धर्म नहीं है'—आदि अन्योऽन्याभाव का प्रत्यक्ष भी समझ लेना चाहिए।

अभूतं नास्तीत्यनर्थान्तरम् ॥९॥

'जो अभूत है' तथा 'जो नहीं है'—ये दोनों परस्पर विरोधी नहीं हैं, एक ही बात है। (अभूत और नास्ति—दोनों एकार्थी हैं।)

नास्ति घटो गेहे इति सतो घटस्य गेहसंसर्गप्रतिषेधः ॥१०॥

'घर में घड़ा नहीं है'—इस प्रकार अन्यत्र विद्यमान घड़े का घर के साथ संसर्ग का प्रतिषेध है।

आत्मन्यात्ममनसोः संयोगविशेषादात्मप्रत्यक्षम् ॥११॥

आत्मा में आत्मा और मन के संयोगविशेष से आत्मा का प्रत्यक्ष ज्ञान होता है।

तथा द्रव्यान्तरेषु प्रत्यक्षम् ॥१२॥

इसी प्रकार आत्मा और मन के संयोग से प्रकृतिपर्यन्त अन्य सूक्ष्म द्रव्यों का भी प्रत्यक्ष होता है।

असमाहितान्तःकरणा उपसंहृतसमाधयस्तेषां च ॥१३॥

जिनका अन्तःकरण निरन्तर समाधि में स्थित नहीं रहता (युञ्जान योगी) और जिन्होंने समाधि-अवस्था को पूर्णरूपेण सफलतापूर्वक प्राप्त कर लिया है (युक्त योगी)—ऐसे दोनों प्रकार के योगियों को सब पदार्थों का प्रत्यक्ष होता है।

तत्समवायात् कर्मगुणेषु ॥१४॥

उन योगियों को द्रव्यों में समवाय से कर्मविषयक प्रत्यक्ष हो जाता है।

आत्मसमवायादात्मगुणेषु ॥१५॥

आत्मा में समवाय से आत्मा के चेतनत्वादि या सुख-दुःख आदि गुणों का प्रत्यक्ष हो जाता है।

॥ इति नवमाध्याये प्रथममाह्निकम् ॥

अथ नवमाध्याये द्वितीयमाह्निकम्

अस्येदं कार्यं कारणं संयोगि विरोधि समवायि चेति लैङ्गिकम् ॥१॥

इस (साध्य) का यह कार्य है, यह कारण है, यह संयोगी है, यह विरोधी है और यह समवायि=सदा साथ मिला रहनेवाला है—इसको एकार्थ समवायि लैङ्गिक (लिङ्ग से होनेवाला) ज्ञान कहा जाता है। (इसीको अनुमित ज्ञान भी कहते हैं।)

अस्येदं कार्यकारणसंबन्धश्चावयवाद्भवति ॥२॥

इस लिङ्ग का यह लिङ्ग=व्याप्य है। इस प्रकार का लिङ्गलिङ्गि-सम्बन्ध अथवा व्याप्य-व्यापक-सम्बन्ध निश्चयपूर्वक अवयव (प्रतिज्ञा, हेतु उदाहरण अवयवी और निगमन) से होता है।

एतेन शाब्दं व्याख्यातम् ॥३॥

इस प्रत्यक्ष एवं लैङ्गिक ज्ञान के व्याख्यान से शब्दजन्य ज्ञान का व्याख्यान भी समझ लेना चाहिए।

हेतुरपदेशो लिङ्गंप्रमाणं करणमित्यनर्थान्तरम् ॥४॥

हेतु, अपदेश, लिङ्ग, प्रमाण, कारण—ये सब एकार्थवाची हैं।

अस्येदमिति बुद्ध्यपेक्षितत्वात् ॥५॥

इस लिङ्ग का यह लिङ्ग अथवा इस कार्य का यह कारण—ऐसा ज्ञान बुद्धि की अपेक्षा से होता है। (अतः उपमान आदि भी पृथक् प्रमाण नहीं हैं।)

आत्ममनसोः संयोगविशेषात् संस्काराच्च स्मृतिः ॥६॥

आत्मा और मन के संयोगविशेष से तथा संस्कार से स्मृतिज्ञान होता है।

तथा स्वप्नः ॥७॥

उसी प्रकार आत्मा और मन के संयोगविशेष से तथा संस्कार से स्वप्नज्ञान होता है।

स्वप्नान्तिकम् ॥८॥

स्वप्न के अन्तर्गत होनेवाला स्वप्नज्ञान भी स्मृतिरूप होता है।

धर्माच्च ॥९॥

धर्म और अधर्म से भी स्वप्नज्ञान होता है।

इन्द्रियदोषात् संस्कारदोषाच्चाविद्या ॥१०॥

आंख, कान आदि इन्द्रियों में कोई दोष होने से और संस्कारों के दोष से अविद्या उत्पन्न होती है।

तद् दुष्टज्ञानम् ॥११॥

दोषपूर्ण ज्ञान का नाम अविद्या है।

अदुष्टं विद्या ॥१२॥

जो ज्ञान दोषपूर्ण नहीं है, वह विद्या (प्रमा अथवा यथार्थ ज्ञान) है।

आर्षं सिद्धदर्शनं च धर्मेभ्यः ॥१३॥

आर्ष-ज्ञान और सिद्ध-पुरुषों को हुआ ज्ञान धर्म (पूर्वकृत पुण्यकर्मों) से उत्पन्न होता है।

॥ इति नवमाध्याये द्वितीयमाह्निकम् ॥

अथ दशमाध्याये प्रथममाह्निकम्

इष्टानिष्टकारणविशेषाद् विरोधाच्च मिथः सुखदुःखयोरर्थान्तरभावः ॥१॥

इष्ट (माला, चन्दनादि) और अनिष्ट (कण्टकादि) में परस्पर भेद तथा विरोध के कारण सुख और दुःख परस्पर भिन्न पदार्थ हैं।

संशयनिर्णयान्तराभावश्च ज्ञानान्तरत्वे हेतुः ॥२॥

तथा, संशय और निर्णय—इन दोनों के अन्तर्गत न आना भी, सुख-दुःख के ज्ञान से भिन्न होने में, कारण है। (सुख और दुःख ज्ञान से भिन्न हैं, इसमें एक हेतु यह है कि ये दोनों न संशय के अन्तर्गत आते हैं, न निर्णय के।)

तयोर्निष्पत्तिः प्रत्यक्षलैङ्गिकाभ्याम् ॥३॥

सुख और दुःख इन दोनों की सिद्धि प्रत्यक्ष और अनुमान से होती है।

अभूदित्यपि ॥४॥

भूतकाल में हुआ था और भविष्यत् में होगा—इससे भी सुख-दुःख का होना सिद्ध होता है।

सति च कार्यादर्शनात् ॥५॥

सुख-दुःख के होने पर भी, सुख-दुःख का कार्य प्रत्यक्ष न देखे जाने से भी सुख-दुःख का होना सिद्ध होता है।

एकार्थसमवायिकारणान्तरेषु दृष्टत्वात् ॥६॥

एक द्रव्य (आत्मा) में समवाय सम्बन्ध से रहनेवाले विशिष्ट कारणों की विद्यमानता में उसी द्रव्य में समवेत सुख-दुःख की उत्पत्ति देखी जाती है।

एकदेश इत्येकस्मिन् शिरः पृष्ठमुदरं मर्माणि तद्विशेषस्तद्विशेषेभ्यः ॥७॥

एक ही शरीर में शिर, पीठ, उदर, मर्मस्थल आदि, ऐसा व्यवहार शरीर के अवयवों में है, उन अंगों की विशेषता उनके कारणविशेष से है।

॥ इति दशमाध्याये प्रथममाह्निकम् ॥

अथ दशमाध्याये द्वितीयमाह्निकम्

कारणमिति द्रव्ये कार्यसमवायात् ॥१॥

'यह कारण है', इस प्रकार व्यवहार द्रव्यों में होता है क्योंकि कार्य का समवाय-सम्बन्ध द्रव्य में ही होता है।

संयोगाद्वा ॥२॥

अथवा संयोग से भी समवायसम्बन्ध का होना सिद्ध होता है।

कारणे समवायात् कर्माणि ॥३॥

समवायिकारण में समवेत होने से कर्म असमवायिकारण होते हैं।

तथा रूपे कारणैकार्थसमवायाच्च ॥४॥

उसी प्रकार कारण का कार्य से समवायसम्बन्ध होने से रूप आदि गुणों में भी कारण होना माना जाता है।

कारणसमवायात् संयोगः पटस्य ॥५॥

तन्तु के समवायिकारण होने से उनका परस्पर संयोग पट का असमवायि-कारण होता है।

कारणकारणसमवायाच्च ॥६॥

तथा, कारण के कारण में समवाय से भी कहीं संयोग असमवायिकारण होता है।

संयुक्तसमवायादग्नेर्वैशेषिकम् ॥७॥

संयुक्त समवाय से अग्नि का विशेष गुण—उष्ण स्पर्श पृथिवी में पाकजरूप आदि गुणों का निमित्त कारण होता है।

दृष्टानां दृष्टप्रयोजनानां दृष्टाभावे प्रयोगोऽभ्युदयाय ॥८॥

वेदादि में उपदिष्ट कर्म, जिनको इस लोक में किया जाता है, तत्काल फल न मिलने पर भी मोक्ष-सुख की प्राप्ति के लिए उनका अनुष्ठान करते ही रहना चाहिए।

तद्वचनादाम्नायस्य प्रामाण्यमिति ॥९॥

ईश्वर का कथन होने से वेद का प्रामाण्य सिद्ध होता है। सूत्र के अन्त में 'इति' पद ग्रन्थ-समाप्ति का सूचक है।

॥ इति दशमाध्याये द्वितीयमाह्निकम् ॥

॥ समाप्तं चेदं वैशेषिकदर्शनम् ॥